ISSN: 2456–5474 RNI No.UPBIL/2016/68367 Vol-3* Issue-2*March (Supplementary Issue)-2018
Innovation The Research Concept

श्रीमद्भगवद्गीता में क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ का स्वरूप

रामदयाल आर्य
शोधछात्र,
संस्कृत–विभाग,
जयनारायण व्यास वि.वि.,
जोधपुर

सारांश

गीता के त्रयोदश अध्याय का मुख्य विषय क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ है। जिन दोनों प्रकृतियों से युक्त हुआ ईश्वर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण होता है, उन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ रूप दोनों प्रकृतियों का निरूपण किया जाता है। उसी विषय का विस्तार अनेक प्रकार से किया गया है। जीवन का परम लक्ष्य अपवर्ग की प्राप्ति है। इस लक्ष्य की सिद्धि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप को समझे बिना नहीं हो सकती। भगवान् श्रीकृष्ण क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की परिभाषा करते हुए कहते हैं –

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।[1]

अर्थात् हे अर्जुन! यह शरीर 'क्षेत्र' इस नाम से कहा जाता है, और इसको जो जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ' इस नाम से उनके तत्त्व को जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं।

मुख्य शब्द : श्रीमद्भगवद्गीता,

प्रस्तावना

संसार में सभी पदार्थ नष्ट होते हुए दिखाई देते। दूसरी ओर मनुष्य यह चाहता है कि वह जिन पदार्थों को प्राप्त करे, वे कदापि नष्ट न हो। किन्तु मनुष्य के इच्छा–मात्र से पदार्थ अपनी क्षण–भंगुरता के स्वभाव को छोड़ नहीं देते। यहीं मनुष्य के दुःख का कारण बन जाता है। वह जिन पदार्थों को चाहता है उनमें से उसे एक पदार्थ मिल जाए तो दूसरा छूट जाता है। दूसरा मिल जाए तो तीसरा छूट जाता है यही है तृष्णा। इसके विषय में महाराज भर्तृहरि कहते हैं –

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।[2]

अर्थात् हमारे द्वारा भोग नहीं भोगे गये अपितु हम ही भोगों के द्वारा भुगते गये, हमने तप नहीं तपा अपितु हम ही सन्तप्त हो गये। समय नहीं बीता अपितु हम ही बीत गये और तृष्णा बूढ़ी नहीं हुई अपितु हम ही बूढे हो गये।

मनुष्य जितना धन इकट्ठा करता है, उतने में किसी बीमारी का आगमन हो जाता है। सोचता है बीमारी से मुक्त हो जाए। किन्तु जितने बीमारी ठीक होती है, उतने में किसी प्रियजन का बिछौह हो जाता है। इस प्रकार पदार्थों की क्षण–भंगुरता मनुष्य को कभी–भी सुखी नहीं होने देती। यही क्षेत्र पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करने का परिणाम है। यदि क्षेत्र स्वस्थ है, तो उसके विषय में महाराज भर्तृहरि कहते हैं –

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरूजं, यावच्च दूरे जरा,
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता, यावत् क्षयो नायुषः।।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा, कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवनेतु कूपखननं, प्रत्युद्यमः कीदृशः।।[3]

अर्थात् जब तक यह शरीर स्वस्थ है, नीरोग है और जब तक बुढापा दूर है, जब तक इन्द्रियों का सामर्थ्य कम नहीं होता और जब तक आयु क्षीण नहीं होती तब तक ही विद्वान् मनुष्य को आत्मकल्याण के विषय में महान् प्रयत्न करना चाहिये। वृद्धावस्था आदि आ जाने पर आत्मकल्याणार्थ प्रयत्न करना तो ऐसा ही है जैसा घर में अग्नि लग जाने पर उसे बुझाने हेतु कूप खोदना है।

क्षेत्र तो नश्वर है और क्षेत्रज्ञ अनश्वर है। जिसकी दृष्टि क्षेत्रज्ञ पर टिक जाती है उसका सुख शाश्वत हो जाता है, क्योंकि क्षेत्रज्ञ न कभी बदलता है, न नष्ट होता है, क्षेत्रज्ञ के विषय में गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं –

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।[4]

तात्पर्य है कि यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला ही है, क्योंकि यह

अजन्मा, नित्य–सनातन और पुरातन है शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता। अर्थात् आत्मा अनादि निधन है।

और भी कहा है –

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।[5]

अर्थात् इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकती। अर्थात् आत्मा अक्षर स्वभाव वाला है।

दूसरी बात यह है कि क्षेत्र में तारतम्य है। किसी के पास कम पैसा है, किसी के पास ज्यादा। कोई कम ताकतवर है, कोई ज्यादा ताकतवर है। किसी की बुद्धि अधिक है, किसी की कम है। किन्तु आत्मा सब में समान है, ऐसा नहीं है कि किसी की आत्मा कम है, किसी की ज्यादा। सत्य तो यह है कि आत्मा अलग–अलग है ही नहीं। अतः गीता कहती है कि देखना तो उसका है जो परमात्मा को देख सके। जगत् को तो पशु भी देखते हैं। जगत् में स्थावर–जङ्गम का उद्भव किस प्रकार होता है इस पर कहते हैं –

यावत्सञ्जायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गम।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ।।[6]

अर्थात् हे अर्जुन! जितने भी स्थावर–जङ्गम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न जान। अर्थात् आत्मा और प्रकृति के संयोग से ही समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई है।

जिसकी आत्मा पर दृष्टि है वह किसी की हिंसा नहीं कर सकता। दुःख तो सदा दूसरे को दिया जाता है। कोई भी अपने को दुःख नहीं देता है। शरीर अपना और पराया होता है। आत्मा तो एक ही है, वह न अपनी है न पराई। किन्तु जिसने सर्वत्र एक ही आत्मा को ओत–प्रोत देख लिया, वह हिंसा नहीं कर सकता। उसका अहिंसक जीवन ही उसकी मुक्ति का कारण बन जाता है। सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृति में ही हो रही है, आत्मा कुछ भी नहीं करती। यह समस्त ज्ञान क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ विचार का मुख्य केन्द्र बिन्दु है। क्षेत्र का विस्तार बहुत बड़ा है। केवल स्थूल शरीर ही क्षेत्र नहीं है मन, बुद्धि और अहंकार भी क्षेत्र हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि हमारे क्रोधादि भाव और पाप–पुण्यादि विचार भी प्रकृति का हिस्सा है, हमारा स्वरूप नहीं है। यह सच है कि क्षेत्रज्ञ भी क्षेत्र में ही रहता है किन्तु फिर भी वह क्षेत्र नहीं है। जैसे हम जिस मकान में रहते हैं उस मकान के नष्ट हो जाने पर हम नष्ट नहीं हो जाते। उसी प्रकार शरीर या मन में कुछ भी विकार क्यों न आएँ, हम निर्विकार ही रहते हैं। गीता ने आत्मा की उपमा आकाश से दी है–

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।।[7]

अर्थात् जैसे सर्वगत होने पर भी आकाश सूक्ष्म होने से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार सर्वत्र स्थित आत्मा शरीर में होने पर भी लिप्त नहीं होता।

और भी कहा है –

यथा प्रकाशयत्यकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।[8]

अर्थात् जैसे एक सूर्य इस सारे लोक को प्रकाशित कर देता है उसी प्रकार क्षेत्री (आत्मा) पूरे क्षेत्र (शरीर) को प्रकाशित करता है।

उद्देश्य

सम्पूर्ण संसार में स्थावर–जङ्गम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सभी को आत्मा और प्रकृति के संयोग से ही समस्त सृष्टि को उत्पन्न जानना चाहिए।

निष्कर्ष

क्षेत्र भिन्न–भिन्न है, किन्तु क्षेत्रज्ञ एक ही है, यह सब विषय ज्ञान द्वारा ही जाना जा सकता है। अनेक बार यह भ्रम होता है कि साधना से हममें परिवर्तन हो रहा है वस्तुस्थिति यह है कि साधना से भी जो परिवर्तन होता है वह प्रकृति में ही होता है, आत्मा में नहीं। समाधि भी चित्त की एक अवस्था है अथवा चित्तवृत्ति का निरोध है। इससे आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं आता है। आत्मा तो सदा से ही अपने सहज रूप में स्थित है। इसे सन्तों ने सहज समाधि कहा है। यह साधना का फल नहीं है, अपितु आत्मा का स्वभाव है। अतः भगवान् वेद का वचन है –

ओ3म् क्रतो! स्मर।[9]

अर्थात् हे कर्मशील जीवात्मन्! तू सर्वरक्षक ईश्वर को स्मरण रख।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. *श्रीमद्भगवद्गीता, 13.1*
2. *वैराग्यशतकम्, श्लोक–12*
3. *वैराग्यशतकम्, श्लोक–82*
4. *श्रीमद्भगवद्गीता, 2.20*
5. *श्रीमद्भगवद्गीता, 2.23*
6. *श्रीमद्भगवद्गीता, 13.26*
7. *श्रीमद्भगवद्गीता, 13.32*
8. *श्रीमद्भगवद्गीता, 13.33*
9. *यजुर्वेद, 40.3*